

*** अध्याय-सप्तम ***
प्राचीन शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था

- ❖ प्रस्तावना
- ❖ प्रशासनिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार
- ❖ शिक्षा के केन्द्र
- ❖ शैक्षणिक सत्र और प्रवेश के नियम
- ❖ अध्ययन पद्धति
- ❖ परीक्षा पद्धति
- ❖ शिक्षण संस्थाओं की अर्थव्यवस्था
- ❖ स्त्री शिक्षा
- ❖ जाति और शिक्षा
- ❖ शिक्षा का प्रसार

अध्याय-सप्तम

प्राचीन शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था

प्रस्तावना-

शिक्षा से संबंधित प्राचीन भारत का दर्शन किसी एक ग्रन्थ में सीमित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत के गुरुकुलों में विभिन्न ऋषियों ने शिक्षा के विषय में अपनी-अपनी अलग परम्पराएं अपनाई थी। इसके उपरांत भी इन सबमें एक तत्व सामान्य था और वह यह कि सब मिलकर विद्यार्थी का सर्वतोमुखी कल्याण करना चाहते थे। कल्याण की इस सामान्य भावना के कारण ही प्रत्येक गुरुकुल में या प्रत्येक शैक्षणिक संस्था में प्रशासनिक व्यवस्था में अल्प अन्तर होते हुए भी मूल तत्व समान रहे। प्रस्तुत अध्याय में प्राचीन शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था में विभिन्न आयामों पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

प्रशासनिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार

प्राचीन भारत का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन स्वयं के द्वारा निर्मित नैतिकता के बंधनों में बंधा हुआ था। इसलिए शिक्षा पद्धति और उसकी प्रशासनिक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं रही। अथर्ववेद में शिष्य की कमर में मेखला बांधते समय आचार्य कहता था कि 'मैं इस बालक को ब्रह्मचर्य, तप एवं श्रम की मेखला के बन्धन से बांधता हूँ।'⁽¹⁾ ये तीनों बंधन केवल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों के लिए भी अनिवार्य समझे गये थे। इसीलिए अथर्ववेद के ही अगले मंत्र में अगस्त्य ऋषि ने कहा था कि - यह कटिबद्ध कार्य हम सबको स्थिर बुद्धि दे, मनन शक्ति प्रदान करे और हमारी इन्द्रिय शक्तियों का भी विकास करे।⁽²⁾

शिक्षा के मूलभूत लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए ऋग्वेद में कहा गया कि हे प्राणी, तू मनुष्य बन और फिर दिव्यजन का निर्माण कर।⁽³⁾ यजुर्वेद ने भी शिक्षार्थी के मुख से यही प्रतिज्ञा करवाई थी कि - हम अपने देश में जागरूक रहते हुए अग्रणी बने और देश का

1. अथर्ववेद (6/133/3) तं ब्रह्मणां तपसा श्रमेणानयैनं मेखलयसिनामि।

2. अथर्ववेद (6/133/4) सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तव इन्द्रियं च।

3. ऋग्वेद (10/53/6) मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।

नेतृत्व करें।⁽⁴⁾ शिष्य की इस प्रतिज्ञा के पीछे, माता-पिता द्वारा गुरु से की जाने वाली यह प्रार्थना थी कि - हे गुरुजनों, कमल पुष्प की माला पहने हुए इस बालक को आप अपने गुरुकुल में स्वीकार करें जिससे यह मानवीय गुणों से युक्त बन जाये।⁽⁵⁾ शिक्षा के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को सारतत्व में यजुर्वेद में बताते हुए कहा गया कि अविद्या से संसार सागर को पार करके विद्या से अमृत तत्व प्राप्त किया जाता है। सांसारिक जीवन के दायित्वों को पूर्ण करने के लिए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त एवं अन्य विषयों को ज्ञान प्राप्त का किया जाए तथा वेद, उपनिषद् आदि के द्वारा अक्षर ब्रम्ह का ज्ञान प्राप्त किया जाए जो मोक्ष की प्राप्ति करवाए।⁽⁶⁾ अथर्ववेद के ब्रम्हचर्य सूक्त में शिष्य ने गुरु से प्रार्थना की है कि हे गुरुवर, मुझे ऐसी सरस और रूचिकर पद्धति से पढ़ाईये, जिससे मैं जो सुनूं वह मुझमें ही रहे।⁽⁷⁾ इस प्रकार की आदर्श शिक्षण पद्धति का दर्शन ऋग्वेद में प्राप्त होता है, जिसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार गाय - रसयुक्त, गुणकारी दूध प्रदान करती है, उसी प्रकार अध्यापक निरन्तर अध्ययनशील रहता हुआ तथा न सोता हुआ शिक्षण की प्रक्रिया को पूर्ण करे तथा ज्ञान प्रदान करे।⁽⁸⁾ हमारी यही उदार संस्कृति वैदिक काल से ही वंदनीय रही है। इसे यजुर्वेद ने भी उल्लेखित करते हुए कहा है कि यह मानवता के उत्कर्ष को प्राप्त करने वाली भारत की वैदिक संस्कृति विश्व की प्रथम संस्कृति है।⁽⁹⁾

आचार्य अपने शिष्य को अध्यापन कराते समय स्पष्ट मार्गदर्शन देता था कि अपने संपूर्ण व्यक्तित्व से अध्ययन किया जाए। कठोपनिषद् में शिष्य को उपदेश दिया गया कि तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी समझ और मन को लगाम समझ।⁽¹⁰⁾ तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया कि प्राणी जिस साधन या प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करता है, उसी का नाम शिक्षा है।⁽¹¹⁾ आचार्य ने अपने शिष्य से कहा था कि तुम तपस्या, ब्रम्हचर्य

4. यजुर्वेद (9/23) वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।
5. यजुर्वेद (2/33)
6. यजुर्वेद (40/11)
7. अथर्ववेद ब्रम्हचर्य सूक्त - वसोष्पते हि रमय मय्येवस्तु मय्येवास्तु मयिश्रुतम।
8. ऋग्वेद (5/44/13)
9. यजुर्वेद (7/14) सा प्रथमां संस्कृति विश्ववारा।
10. कठोपनिषद् (1/3/3)
11. तैत्तिरीय उपनिषद् - शिक्षयते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा।

और श्रद्धा से युक्त होकर एक वर्ष और निवास करो। फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं जानता होउंगा तो तुम्हें सब बता दूंगा।⁽¹²⁾

विद्या की यह परम्परा अनवरत चलती रही। अनेक विद्वान शिष्य मानवता के सर्वोच्च आदर्श तक पहुंचे। इसलिए विद्याधन को सबसे उत्तम धन कहा गया क्योंकि चोर इसकी चोरी नहीं कर सकते, धन देकर इसे खरीदा नहीं जा सकता और दूसरों को बांटने से यह कम नहीं होता, अपितु बढ़ जाता है।⁽¹³⁾ विद्याअध्ययन करने से मनुष्य विनयवान बनता है। विनयवान होने से वह सुपात्र कहलाता है, धन प्राप्त करके वह सत्कार्य करता है और सांसारिक कर्म करता हुआ मान प्रतिष्ठा तथा सुख प्राप्त करता है।^(13ए) पंडित विष्णु शर्मा ने बालकों को विद्याध्ययन के लिए मनोरंजक तथा नीतियुक्त कथाएं सुनाकर उपदेश देने का प्रयत्न किया था। उन्होंने कहा था कि बालकों का हृदय मिट्टी के नये घड़े के समान निर्मल होता है। उस पर खींचे गये रेखा-चिन्ह बर्तन फूटने तक नहीं जाते अर्थात् बचपन में दिये गये संस्कार जीवन पर्यन्त बने रहते हैं।⁽¹⁴⁾ इसलिए जो माता-पिता अपने बालक को नहीं पढ़ाते, वे उसके शत्रु के समान हैं क्योंकि जिस प्रकार हंसों की सभा में बगुले को महत्व नहीं मिलता, उसी प्रकार विद्वानों की सभा में बिना पढ़े-लिखे व्यक्ति को आदर नहीं मिलता।⁽¹⁵⁾

शिक्षा के विषय में सबसे व्यापक रूप से दार्शनिक आधार चरक संहिता में आचार्य चरक ने दिये हैं। गुरु के गुण बताते हुए चरक ने कहा है कि - गुरु वह है जो समस्त वेदों तथा सर्वांश कर्म को जानने वाला हो, जो पवित्र हो, जो सर्वेन्द्रियसंपन्न हो, जिसके शरीर के संपूर्ण अंग उत्तम हो, वह मनुष्यों को प्रवृत्ति तथा भेद को समझने वाला हो, जिसने सम्पूर्ण शास्त्र पढ़े हों और शास्त्रों की स्मृति हो, अहंकार रहित हो और क्रोध, निन्दा आदि दोषों से मुक्त हो, क्लेशों को सहन करने वाला हो, शिष्य पर प्रेम करने वाला हो, और जिस विषय को वह पढ़ाये, उसको उदाहरण आदि के द्वारा स्पष्ट रूप से समझाने वाला हो। जैसे वर्षा ऋतु में अच्छी भूमि पर मेघ बरसकर उत्तम खेती को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आचार्य अपने शिष्य को शीघ्र गुणों से संपन्न कर देता है। वैद्य होने की इच्छा वाले शिष्य के लिए यह उचित है कि वह

12. प्रश्नोपनिषद्

13. हितोपदेश, कथामुखम् (4)

13ए. हितोपदेश, कथामुखम् (6)

14. हितोपदेश, कथामुखम् (8)

15. हितोपदेश, कथामुखम् (37)

ऐसे गुरु के समीप जाकर उसको अग्नि, देवता, राजा, पिता और स्वामी के समान मानकर आलस्यरहित होकर उसकी सेवा करे। ऐसे गुरु की कृपा से सम्पूर्ण शास्त्र को पढ़कर शास्त्र में दृढ़ता उत्पन्न करने, कथन की चतुराई उत्पन्न करने, शास्त्रीय विषय का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने और जाने हुए विषय का वर्णन करने के लिए, उत्तम शक्ति उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहे।⁽¹⁶⁾

चरक ने अध्ययन विधि का उल्लेख करते हुए कहा है कि पढ़ने के क्रम को अध्ययन विधि कहते हैं। पढ़ने की इच्छा वाला निरोग ब्रह्मचारी नित्य समय पर प्रातःकाल अथवा सूर्योदय होने के चार घड़ी पूर्व उठकर परमेश्वर का स्मरण करे और मलमूत्रादि त्याग करने के पश्चात् स्नान कर पवित्र होकर देवता, गाय, ब्राम्हण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य को प्रणाम कर शुद्ध पवित्र स्थान में सुखपूर्वक बैठकर शास्त्र में मन लगाये हुए जिन सूत्रों को पढ़ा हो, उसका चित्त लगाकर स्पष्ट स्वर से उच्चारण करता हुआ बार-बार पाठ करता जाए। फिर सब पाठ को अपनी बुद्धि में जमा कर उस विषय में जो दोष या अदोष एवं तर्क-वितर्क उत्पन्न हों उसका निश्चय करने के लिए दोपहर या रात्रि के समय या उसी समय गुरु के समीप जाकर अपनी शंकाओं का निवारण करे। इसी विधि से नित्य पढ़ता रहे। यही अध्ययन की विधि है।⁽¹⁷⁾

अध्ययन के समान अध्यापन की विधि का वर्णन भी चरक ने व्यापक रूप से किया है।⁽¹⁸⁾ उन्होंने कहा है कि पढ़ाने की इच्छा वाला वैद्य सर्वप्रथम शिष्य की परीक्षा करे। शिष्य ऐसा होना चाहिए जो शान्तचित्त और श्रेष्ठ स्वभाव वाला हो। वह न नीच कर्मों को करने वाला तथा न ही नीच आशय वाला हो। जिसके नेत्र, मुख, नासिका, सब सुन्दर और सुडौल हों, जिसकी जिह्वा पतली, लाल, सुन्दर हो, दंतपक्ति तथा होंठ उत्तम हों एवं धारण शक्ति हो, जो अहंकार रहित, मेघायुक्त व तर्कशक्ति और स्मरण शक्ति व उदार स्वभाव वाला हो और जिसके कुल में परम्परा से विद्या पढ़ने, पढ़ाने की प्रथा चली आ रही हो अथवा जो उस विद्या को पढ़ना चाहता हो। जो विद्या से अपने लाभ की इच्छा रखता हो, जो विद्या के तत्व को जानने में चित्त लगाये हुए हो, जिसके शरीर के सम्पूर्ण अंग उत्तम हो, जो सर्वेन्द्रियसंपन्न हो, विनीत हो,

16. चरक संहिता (3)

17. चरक संहिता (4)

18. चरक संहिता (5)

अकड़ रहित, बुरे व्यसनों से रहित हो, सुशील, पवित्र, अनुरागी तथा चतुर हो और गुरु की आज्ञा पालन करना वाला हो- इस प्रकार के गुणों से संपन्न शिष्य पढ़ाने योग्य होता है। इन सम्पूर्ण गुणों से युक्त शिष्य बहुत समय तक पढ़ने की इच्छा से आये तो भी ऐसे शिष्य को गुरु ने विधिवत शास्त्र का उपदेश देना चाहिए।

चरक ने अगले श्लोक में विद्याध्ययन एवं अध्ययन के पूर्व किये जाने वाले उपचार का भी उल्लेख किया है।⁽¹⁹⁾ उनका मत है कि जब शिष्य को अध्ययन कराना हो तो आचार्य ने उससे कहना चाहिए कि तुम उत्तरायण में, शुक्ल पक्ष में और शुभ दिन में, पुष्य, हस्त, श्रवण या अश्विनी नक्षत्रों में किसी नक्षत्र युक्त चंद्रमा होने पर, अच्छे मुहूर्त और शुभ लग्न में स्नान और उपवास करके, मुण्डन कर, कषाय वस्त्रों को धारण कर, यज्ञ की समिधा, अग्नि, घी, उपलेपन द्रव्य, जल कलश, सुगंधित द्रव्य, माला, मृग छाला, स्वर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मूंगा, रेशमी धोती, पुष्प, सरसों, अक्षत, सफेद फूल और फूलों की माला पवित्र खाद्य पदार्थ, केसर चंदन आदि पिसे हुए उत्तम द्रव्य लेकर हमारे पास आओ। इसके पश्चात जब शिष्य गुरु के पास आये तब उस आये हुए शिष्य को साथ में लेकर सम और पवित्र भूमि में पूर्व या उत्तर की ओर चार हाथ की चौरस वेदी बनाये, उसको गोबर और पानी से लीपकर उसके ऊपर विधिवत उषा को बिछाये और वेदी के चारों ओर चार परिधि बनाये। फिर शास्त्रोक्त विधि से चन्दन, जल कलश, रेशमी वस्त्र, सोना, चांदी, मणि, मोती, मूंगा, इनको अलग-अलग स्थान पर यथा विधि विभूषित करे, फिर पवित्र खाद्य पदार्थ कपूर, केसर, चंदन, आदि गंध द्रव्य, सरसों अक्षत आदि को यथाक्रम स्थापित करे, पलाश, गूलर, महुआ आदि की समिधाओं से अग्नि को विधिवत प्रज्वलित करे, विधि पूर्वक हवन करे, अग्नि की परिक्रमा करे, ब्राम्हणों से स्वस्ति वाचन कराये और वैद्यों का पूजन करे।⁽²⁰⁾

चरक ने आगे कहा है कि इसके पश्चात शिष्य को अग्नि, ब्राम्हणों और वैद्यों के समीप बिठाकर इस प्रकार शिक्षा दे कि - हे शिष्य, तुमको ब्रम्हचारी बनकर श्मश्रुणधारण कर, सत्यवादी रहना होगा, शाकाहारी होना और पवित्र भोजन करना, ईर्ष्या और द्वेष से रहित होना, और शास्त्रों को धारण करना होगा। तुम मेरी आज्ञा के बाहर कोई काम कभी नहीं करोगे। राजा

19. चरक संहिता (6)

20. चरक संहिता (7)

का द्वेष, हिंसा, अधर्म और अनर्थ से धन प्राप्त करना छोड़कर रहोगे सम्पूर्ण काम मेरी आज्ञा के अनुसार करना। मेरे आगे नम्रतापूर्वक हरेक काम में मुझे प्रधान मानते हुए मेरे अधीन और मेरी प्रियता, मेरा हित करते हुए तथा मेरा अनुवर्ती बनते हुए निरन्तर रहना। जैसे पिता की सेवा पुत्र करता है, स्वामी की सेवा सेवक करता है। जैसे अर्थ की इच्छा से अर्थी पुरुष धनवान की आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार सब स्थानों में तुमको मेरा अनुसरण करना होगा। उतावली रहित होकर सावधानी से, अनन्यमन होकर विनीत भाव से प्रत्येक कार्य को विचार करते हुए ईर्ष्या, अभिमान, निन्दा आदि को त्याग कर मेरी आज्ञा के अनुसार सब कार्य करने होंगे तथा मेरी आज्ञा लेकर ही इधर-उधर जाना होगा।⁽²¹⁾

चरक ने अध्ययन काल के विभिन्न नियम भी बताए। उन्होंने कहा कि शिष्य ने श्रेष्ठ महात्माओं तथा गुरुजनों की निन्दा नहीं करना चाहिए। बिना शुद्ध हुए मंत्र, तंत्र, देव मन्दिर, पिपल आदि का पूजन, पूज्यों का पूजन तथा विद्याध्ययन नहीं करना चाहिए। अकाल, बिजली गिरने पर, भूकम्प होने पर, बड़े उत्साह में, उल्कापात के समय, सूर्य-चंद्र के ग्रहण में, अमावस्या को, दोनों संध्याओं में, ऐसे ही गुरुमुख के अतिरिक्त अन्य से, अत्यंत मात्रा से बहुत पीछे स्वर से, पदों को तोड़-फोड़ कर बहुत शीघ्रता से, बहुत देर से, बहुत दुर्बलता से, बहुत ऊंचे स्वर से या बहुत नीचे स्वर से अध्ययन नहीं करना चाहिए। पढ़ने के समय को व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। पढ़ने के नियम को बिगाड़ना नहीं चाहिए। विद्यार्थी को धैर्य रहित और बड़ा सात्विक नहीं बनना चाहिए, वेतन रहित भृत्य नहीं रखना चाहिए। सर्वथा, विश्वास रहित भी नहीं बनना चाहिए। कुटुम्ब के बिना अकेला ही सुख नहीं भोगना चाहिए और दूसरों को दुःख मिलना वाला आचरण भी नहीं करना चाहिए। सभी का विश्वास भी नहीं करना चाहिए और प्रत्येक मनुष्य के झूठा होने का भ्रम भी नहीं करना चाहिए। सदा सोचते भी नहीं रहना चाहिए। काम के समय को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए। बिना जाने कार्य में प्रवेश नहीं करना चाहिए और इन्द्रियों के वशीभूत भी नहीं होना चाहिए।⁽²²⁾

चरक कहते हैं कि इसके पश्चात आचार्य ने शिष्य से कहना चाहिए कि - देवता, अग्नि, ब्राम्हण, गुरु, वृद्धजन, सिद्ध और आचार्य - इनसे सदैव भले प्रकार से, विनीत भाव से बर्ताव

21. चरक संहिता (8)

22. चरक संहिता (29)

रखना। इन सबके साथ विनयपूर्वक उत्तम बर्ताव करने से यह सब, अग्नि और सब प्रकार के गंध, रस, रत्न आदि, देवता, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य तेरा कल्याण करेंगे। इसके विपरीत करने से तुम्हारा अमंगल होगा। शिष्य ने यह सुनकर हाथ जोड़कर यह कहना चाहिए- बहुत अच्छा। ऐसा ही करूँगा तथा जैसा गुरु ने उपदेश दिया है, उसी के अनुसार समस्त कार्यों को करना चाहिए। ऐसा ही शिष्य पढ़ाने के योग्य है। इसके विपरीत शिष्य पढ़ाने के योग्य नहीं है। पढ़ाने के योग्य शिष्य को पढ़ाता हुआ आचार्य, अध्यापन के समस्त फलों को प्राप्त करता है। शिष्य को चाहिए कि इसके अतिरिक्त अन्य जो भी हितकर, कल्याणकारी गुण हों उनको ग्रहण करे।⁽²³⁾

चरक द्वारा बताये गये ये सभी उपदेश या कार्य – व्यवहार शिक्षा की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था के मूल आधार का निर्माण करते हैं। इन व्यवस्थाओं में शिक्षा के प्रशासनिक तंत्र का दर्शन निहित है।

शिक्षा के केन्द्र

शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था पर विचार करते समय हमें शिक्षा के केन्द्रों या शैक्षणिक संस्थाओं पर विचार करना आवश्यक है। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मंदिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पंडित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्म सूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है।⁽²⁴⁾ कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है।⁽²⁵⁾ जैसे-जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे-वैसे शैक्षणिक संस्थाएं स्थापित होने लगीं। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएं सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारंभ की गई थीं।

प्रारंभिक स्तर पर प्रत्येक ब्राह्मण या प्रत्येक अध्यापक अपने आप में संस्था के रूप में

23. चरक संहिता (2)

24. गौतम धर्म सूत्र (2/50)

25. याज्ञवल्क्य स्मृति (1/15)

कार्य करता था। उसका व्यक्तित्व ही शिक्षा का विकास कर देता था। ऐसे आचार्यों का उल्लेख पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। व्यवस्थित शिक्षण संस्थाओं के अंतर्गत हमें प्राचीन भारत की विश्व प्रसिद्ध **गुरुकुल शिक्षा पद्धति** का उल्लेख मिलता है। इन गुरुकुलों में विद्यार्थी महान ऋषियों के सम्पर्क में रहते और विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि उपनयन संस्कार के पश्चात आचार्य कुल में रहने वाले विद्यार्थी, विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे।^(25ए) इस बात का उल्लेख गृह सूत्रों में भी किया गया है।⁽²⁶⁾ उपनिषदों में उल्लेख है कि बारह वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में प्रवेश करके विद्यार्थी, आचार्य से विभिन्न शिक्षाएं प्राप्त करता था। यह उल्लेखनीय है कि उपनिषदों में "गुरुकुल" शब्द के स्थान पर "आचार्य कुल" शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। ये गुरुकुल दो प्रकार के होते थे- गृहस्थ गुरु आश्रम तथा वानप्रस्थ प्रव्रजित आश्रम। उपनिषद् में इसके लिए आचार्य कुलवासी, अन्तेवासी तथा ब्रम्हचर्यवासी जैसे शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है।⁽²⁸⁾

गुरुकुल सामान्यतः बस्तियों से दूर जंगलों में स्थापित होते थे। इसलिए इन्हें तपोवन या आश्रम भी कहा जाता था। जो गृहस्थ आश्रम होते उसमें आचार्य सहपरिवार निवास करते थे। कालीदास के साहित्य में गुरुकुलों के मनोरम स्वरूप का वर्णन किया गया है।⁽²⁹⁾ गुरुकुलों का आश्रम और उसका वातावरण पूर्ण प्राकृतिक होता था।⁽³⁰⁾ वहां के वनों में विभिन्न प्रकार की वनस्पतियां पाई जाती थीं। मुनि वशिष्ठ के आश्रम का उल्लेख भी कालीदास ने इसी रूप में किया है।⁽³¹⁾ आचार्य चाणक्य ने भी मौर्य साम्राज्य के मंत्री रहते हुए आचार्य धर्म का निर्वहन किया था। उनका आश्रम अत्यंत सादगीपूर्ण था, जो कि शहरी क्षेत्र से दूर स्थित था। इसका वर्णन मुद्रा राक्षस में प्राप्त होता है।⁽³²⁾

25ए. विष्णु पुराण (3/10/12)

26. आश्वलायन गृह सूत्र (1/20/4) तथा परस्कर गृह सूत्र (2/3)

27. छान्दोग्य उपनिषद (6/1/1/3)

28. छान्दोग्य उपनिषद (2/23/1) (4/9/1) तथा (4/10/1)

29. अभिज्ञान शाकुन्तलम (1/14)

30. रघुवंश (1/49/51)

31. रघुवंश (2/26)

32. मुद्रा राक्षस (3/15)

गुरुकुलों की भूमि पर उत्पन्न अनाज से गुरुकुलवासी का जीवन यापन होता था। वे अपनी गायों के दूध और गोबर का उपयोग करते थे। गुरुकुलों की स्थापना के समय यह ध्यान रखा जाता था कि ये बस्तियों से दूर हों लेकिन इतने दूर भी न हों कि वहां विद्यार्थी पहुंच ही न सके। गुरुकुलों की स्थापना के पीछे शिक्षा शास्त्रियों का यह तर्क था कि प्रत्येक क्षण आचार्य के संपर्क में रहने से विद्यार्थी के भीतर विद्यमान विकारों का परिहार हो जाता है। गुरुकुल में विद्यार्थी का प्रवेश विशेष कर्मकाण्ड के द्वारा होता था। ऐसा माना गया है कि उपनयन संस्कार के पश्चात जब विधिपूर्वक गुरु अपने शिष्य को गायत्री मंत्र देता, तब वह शिष्यत्व को प्राप्त करता था। वह अपने हाथ में समिधाएं लेकर आचार्य के समक्ष उपस्थित होता जो इस बात का संकल्प था कि वह आचार्य की सेवा में तत्पर रहेगा और पवित्र अग्नियों को प्रज्वलित रखेगा।⁽³³⁾ सामान्यतः अध्ययन में कुल या जाति बाधक नहीं बनती थी।⁽³⁴⁾ छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है।

पाणिनी द्वारा **चार प्रकार के गुरुकुलों** का उल्लेख किया गया है। इनके नाम कुल, गोत्र, चरण तथा परिषद् थे। “कुल” एक प्रकार के आवासीय विद्यालय थे। इसमें रहने के लिए आचार्य स्वयं अपने शिष्य का चयन करते थे। जब एक ही वंश परम्परा के अनेक विद्वान मिलकर किसी संस्था का संचालन करते तो इसे “गोत्र” कहा जाता था। सामान्यतः अध्ययन की किसी एक विशेष शाखा का विकास एक गोत्र द्वारा किया जाता था। अनेक गोत्र मिलकर “चरण” के रूप में विकसित होते थे। चरणों का गठन विद्या और रक्त संबंध के आधार पर होता था। विभिन्न चरणों में सामंजस्य स्थापित करने वाली संस्थाएं “परिषद” कहलाती थीं।⁽³⁵⁾

भारत के प्राचीन गुरुकुलों में उज्जैन स्थित सांदीपनी आश्रम प्रसिद्ध था, जहां श्रीकृष्ण और बलराम ने शिक्षा प्राप्त की थी।⁽³⁶⁾ रामायण में भारद्वाज और वाल्मिकी के उच्चकोटि के गुरुकुलों का वर्णन मिलता है।⁽³⁷⁾ भारद्वाज का आश्रम प्रयाग के तट पर था और वाल्मिकी का आश्रम तमसा नदी के तट पर था। वशिष्ठ ऋषि के आश्रम का उल्लेख कालीदास द्वारा किया

33. शतपथ ब्राह्मण (11/5/4/17)

34. छान्दोग्य उपनिषद (4/4/4)

35. पाणिनी अष्टाध्यायी (4/4/44) (4/4/101)

36. विष्णु पुराण (3/10/12)

37. वाल्मिकी रामायण (6/123/151)

गया है। अगस्त्य ऋषि के आश्रम का वर्णन हमें रामायण में प्राप्त होता है।⁽³⁸⁾ इनका आश्रम गोदावरी नदी के तट पर स्थित था।⁽³⁹⁾ मार्कण्डेय ऋषि का आश्रम महाभारत में वर्णित किया गया है।⁽⁴⁰⁾ यह भी शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। वैदिक परम्परा के महर्षि कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर था। इसका उल्लेख महाभारत, अग्नि पुराण आदि में प्राप्त होता है।⁽⁴¹⁾ महर्षि वेद व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत में स्थित था। बद्रीनाथ के निकट व्यास गुफा नामक स्थान पर महाभारत की रचना की गई थी।

महर्षि शौनक के आश्रम का वर्णन नैमिषारण्य में होने का उल्लेख प्राप्त होता है। वामदेव ऋषि का आश्रम अमरकण्टक के निकट स्थित था। विश्वामित्र का आश्रम कोशी नदी के तट पर स्थित था, जहां स्वाध्याय करने वाले विद्यार्थी उच्च स्वर में मंत्र पाठ करते थे। परशुराम का आश्रम महेन्द्र पर्वत पर माना गया है। महर्षि दुर्वासा का आश्रम वर्तमान में उत्तरप्रदेश के आजमगढ़ क्षेत्र में स्थित उल्लेखित है। इसी प्रकार महाकवि बाणभट्ट ने कादाम्बरी में विंध्याचल क्षेत्र में महर्षि जाबलि के आश्रम का वर्णन किया है।

ऐसा माना जाता था कि गुरुकुलों में प्रवेश करना, एक प्रकार से विद्यार्थी का पुनर्जन्म है।⁽⁴²⁾ इसीलिए मनु स्मृति में भी गुरुकुलों की महत्ता का वर्णन किया गया है।⁽⁴³⁾ उत्तर वैदिक काल में तथा उपनिषद् काल में अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है, जिनके आश्रम देश के विभिन्न कोनों में स्थापित थे। महाकाव्य में गुरु और शिष्य के मध्य पिता-पुत्र जैसे घनिष्ठ संबंधों के संकेत प्राप्त होते हैं। महाभारत के आदि पर्व में कण्व ऋषि के आश्रम का वर्णन किया गया है।⁽⁴⁴⁾ इसमें कहा गया है कि उस समय के आश्रम में विभिन्न प्रकार के अध्यापन विषय, गोष्ठी, परिचर्चा आदि गतिविधियां सम्मिलित थीं। यही वर्णन आश्रमवासिक पर्व में भी प्राप्त होता है।⁽⁴⁵⁾

38. वाल्मिकी रामायण- अरण्य काण्ड (2/85-86) तथा महाभारत वन पर्व (101)

39. उत्तम रामचरित (2/3)

40. महाभारत (3/271/48)

41. अग्नि पुराण (115/10), महाभारत आदि पर्व (215/103)

42. महाभारत (5/44/6)

43. मनु स्मृति (2/69)

44. महाभारत आदि पर्व (64/31/37)

45. महाभारत आश्रमवासिक पर्व (34/7-11)

ग्रंथों में गुरुकुल में रहने की अवधि के विषय में कोई नियम ज्ञात नहीं होता। गुरुकुल में रहने की अवधि के आधार पर स्नातक तीन प्रकार के होते थे- विद्या स्नातक, व्रत-स्नातक और विद्या-व्रत स्नातक। अल्पसमय में वेद का पाठ करके लौट जाने वालों को “विद्या स्नातक” कहा जाता था। सभी गुरुकुल अत्यंत सादगीपूर्ण थे और ज्ञान के प्रतिष्ठित केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे।

गुरुकुल जहां व्यक्तिगत स्तर पर विद्यार्थियों को ज्ञान देने का कार्य करते थे, वहीं देश में ऐसे अनेक शहर थे जहां शैक्षणिक गतिविधियां उत्कृष्टता के श्रेष्ठ स्तर पर पहुंच गई थी। **शिक्षण संस्थाओं के रूप में स्थापित नगर** भारत ही नहीं अपितु विश्व भर के विद्यार्थियों के आकर्षण का केन्द्र थे। प्राचीन भारत के साहित्य में ऐसे अनेक नगरों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत के प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में **अयोध्या** का उल्लेख प्राप्त होता है। वाल्मीकी द्वारा इस नगर का वर्णन किया गया है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि यहां एक भी अशिष्ट ब्राह्मण नहीं था।

तक्षशिला प्राचीन भारत का अत्यंत प्रसिद्ध शिक्षा का केन्द्र था। यह गांधार प्रान्त की राजधानी था और रावलपिंडी से लगभग 20 मील दूर स्थित था। इसकी स्थापना भरत द्वारा की गई थी और भरत का पुत्र तक्ष यहां का शासक था। इस बात का उल्लेख रामायण में मिलता है।⁽⁴⁶⁾ यह शहर अपने दार्शनिकों के लिए विख्यात था। सुदूर क्षेत्र से यहां विद्यार्थी अध्ययन करने के लिए आते थे। बौद्ध साहित्य में इसका अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है।⁽⁴⁷⁾ महाभारत में भी उल्लेख है कि उपमन्यु, आरुणी और वेद व्यास ने यहीं पर शिक्षा प्राप्त की थी। जातक ग्रन्थों में यहां की अनेक प्रशासनिक व्यवस्थाओं की जानकारी मिलती है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेन सांग की यात्रा के समय यह विश्वविद्यालय ध्वस्त हो गया था

काशी प्राचीन भारत का अत्यंत प्रशिक्षित शैक्षणिक नगर था। यहां के अनेक आचार्य तक्षशिला के ही स्नातक थे। जातक ग्रन्थों में काशी की शैक्षणिक महत्ता का उल्लेख किया गया

46. रामायण (7/101)

47. जातक (पृ. 272, 285)

48. भविष्य पुराण ब्रह्मखंड अध्याय 51/2/3

है। भविष्य पुराण में भी काशी को शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में बताया गया है।⁽⁴⁸⁾ **काश्मीर** का वर्णन भी शिक्षा के केन्द्र के रूप में मिलता है। यहां सम्राट कनिष्क ने चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन करवाया था। दक्षिण भारत में पल्लव शासकों द्वारा **कांची** का विकास शिक्षण केन्द्र के रूप में हुआ था। **श्रावस्ती** बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। यहां बौद्ध धर्म, दर्शन आचार-विचार की शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीन शैक्षणिक नगरों में **नालंदा** का उल्लेख भी इतिहास में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। यह वर्तमान पटना से लगभग 50 मील की दूरी पर स्थित था। इसकी ख्याति बुद्ध के समय भी थी। विभिन्न राजाओं के द्वारा दिये गये संरक्षण के कारण इसका विकास हुआ था। **वलभी** गुजरात के काठियावाड़ में समुद्र तट पर स्थित था जो बंदरगाह के साथ-साथ शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। **विक्रमाशिला** शहर की स्थापना पाल वंश के शासक धर्मपाल ने करवाई थी जो लगभग चार शताब्दी तक शिक्षण संस्था के रूप में कार्य करता रहा।

मिथिला शहर उपनिषद् काल से विद्या का प्रतिष्ठित केन्द्र था। इस नगर को विदेह के नाम से भी जाना जाता है। यहां की सभा में देश के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान आकर अध्यात्म चर्चा करते थे। मिथिला में न्याय दर्शन का विशेष रूप से विकास हुआ था।

इन शिक्षा केन्द्रों के अतिरिक्त देश में अन्य कई शिक्षा केन्द्र भी थे। जैसे- काश्मीर में जयेन्द्र विहार, पंजाब में चिनपति और जालंधर के बौद्ध विहार, उत्तरप्रदेश के बिजनौर में मणिपुर विहार, कन्नौद के पास भद्र विहार, आंध्रदेश में अमरावती का विहार आदि। इनके अतिरिक्त देश के अनेक मन्दिर शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में कार्य करते थे। इन मन्दिरों में बिजापुर स्थित **सालोत्गी देवालय विद्यापीठ**, दक्षिणी अरकाट जिले में स्थित **एन्नारियम देवालय विद्यापीठ**, चिंगलपट जिले में स्थित **तिरिमुक्कुदल देवालय विद्यापीठ** दक्षिण भारत के प्रमुख विद्यापीठ थे। उत्तर भारत के विभिन्न नगरों में मन्दिरों में कार्यरत आचार्य विद्यार्थियों को अध्यापन का कार्य करते थे।

शैक्षणिक सत्र और प्रवेश के नियम-

प्राचीन भारत में शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत प्रारंभिक स्तर पर वैदिक मंत्रों के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी, अर्थात् उस समय शिक्षा का मुख्य विषय वेद ही थे। इस समय शैक्षणिक

सत्र की अवधि छह माह होती थी जो वर्षा ऋतु से प्रारंभ होकर बसंत ऋतु के आगमन तक चलती थी। इस अवसर पर विभिन्न विद्वानों के यथोचित आदर सत्कार मान-सम्मान के पश्चात विद्यारंभ किया जाता था। फरवरी माह में अर्थात् बसंत ऋतु के प्रारंभ में यह सत्र समाप्त हो जाता था। जैसे-जैसे पाठ्यक्रमों का विस्तार हुआ, वैसे-वैसे शैक्षणिक सत्र की अवधि भी बढ़ी।

सत्र के अवसान के समय उत्सर्जन संस्कार होता था। इसका अर्थ यह है कि अगले सत्र तक शिक्षा का कार्य स्थगित किया जाता था। मनु स्मृति में कहा गया है कि उत्सर्जन संस्कार के बाद भी वेद-वेदांगों की शिक्षा जारी रहना चाहिए।⁽⁴⁹⁾ अर्थ शास्त्र में इस बात का उल्लेख है कि जो विद्यार्थी अध्ययन के उद्देश्य से गये हैं, उन्होंने अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात ही वापस लौटना चाहिए।⁽⁵⁰⁾ चाणक्य का यह मत था कि बाहर गये हुए ब्रम्हचारियों की पत्नियों ने कम से कम दस वर्ष पुनर्विवाह के लिए प्रतीक्षा करना चाहिए। जिन विद्यार्थियों को घर जाना आवश्यक होता था, वे आचार्य की अनुमति लेकर जा सकते थे।

ब्राम्हण ग्रन्थों का मत है कि ज्ञान का क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है। अतः उसे किसी समय सीमा में नहीं बांधा जा सकता।⁽⁵¹⁾ इस दृष्टि से शिक्षा की अवधि वर्षभर चलने की व्यवस्था थी। कितनी अवधि तक पढ़ना है – यह बात विद्यार्थी की योग्यता और इच्छा पर निर्भर करती थी। सामान्यतः वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत लगभग 25 वर्ष की आयु तक विद्यार्थी अध्ययन करते थे। गृह सूत्रों में उल्लेख है कि उपनयन संस्कार के पश्चात विद्यार्थी बारह से पन्द्रह वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करते थे।⁽⁵²⁾ उपनिषद में भी वर्णन आता है कि ऋषि के आश्रम में बारह वर्ष तक विद्यार्थी ने ज्ञान प्राप्त किया था।⁽⁵³⁾ इससे सिद्ध होता है कि वैदिक साहित्य के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए लगभग 10 से 12 वर्ष तक समय आवश्यक माना गया था। ब्राम्हण ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि ब्रम्हचर्य की अवधि 48 वर्ष थी। ऐसा वर्णन गोपथ ब्राम्हण में प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए लगभग 12 वर्ष

49. मनु स्मृति (4/98)

50. अर्थशास्त्र (2/4)

51. तैत्तिरीय ब्राम्हण (3/10/11)

52. आपस्तम्ब गृहसूत्र (2/6)

53. छान्दोग्य उपनिषद (8/7/4)

का समय निर्धारित किया था। तैत्तिरीय ब्राम्हण में वर्णन आता है कि भारद्वाज ऋषि ने 75 वर्ष तक अध्ययन किया था और जीवन के अंतिम समय में ब्रह्मचर्य के पालन के लिए अनुष्ठान किया था।^(53ए)

प्राचीन ग्रन्थों में “नैष्ठिक ब्रह्मचारी” शब्द का उल्लेख मिलता है। ये वे ब्रह्मचारी थे जो आध्यात्मिक ज्ञान के लिए भी अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देते थे। इनका मुख्य उद्देश्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के बाद मोक्ष प्राप्त करना होता था। हारित स्मृति में उल्लेख है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी कभी विवाह नहीं करता और कभी सन्यास भी नहीं ले लेता था। वह अतीन्द्रिय होकर शरीर का त्याग करता था और उसका पुनर्जन्म नहीं होता था।⁽⁵⁴⁾ पाणिनी ने लिखा है कि अवधि के आधार पर ब्रह्मचारी तीन प्रकार के थे। वर्षभर गुरुकुल में पढ़ने वाले “सांवत्सरिक” ब्रह्मचारी कहलाते थे। एक माह के लिए गुरुकुल में आने वाले “मासिक” ब्रह्मचारी कहलाते थे और पन्द्रह दिन में गुरुकुल में आने वाले “अर्द्धमासिक” ब्रह्मचारी कहलाते थे।⁽⁵⁵⁾

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि शैक्षणिक सत्र की अवधि सामान्यतः एक वर्ष थी लेकिन पाठ्यक्रम की प्रकृति के आधार पर यह सत्र अल्पकालीन और दीर्घकालीन हो जाते थे। अल्पकालीन पाठ्यक्रम 15 दिन की अवधि के होते थे और दीर्घकालीन पाठ्यक्रम 10 से 12 वर्ष के होते थे। कभी-कभी पाठ्यक्रम इतने दीर्घकालीन हो जाते थे कि जीवन भर चलते रहते थे।

जिस प्रकार आधुनिक समय में शासन द्वारा शैक्षणिक केलेण्डर घोषित किया जाता है, जिसमें विभिन्न अवकाशों का भी उल्लेख होता है, वैसे ही व्यवस्था प्राचीन काल में थी। इस प्रकार के अवकाशों की सूची विभिन्न धर्म ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इन धर्म ग्रन्थों में उत्तर वैदिक कालीन साहित्य प्रमुख हैं। प्रत्येक माह की प्रतिपदा, पूर्णिमा, अष्टमी और अमावस्या को शिक्षण कार्य नहीं होता था। अर्थात् एक माह में 4 दिन का अवकाश मिलता

53ए. तैत्तिरीय ब्राम्हण (3/10/11)

54. हारित स्मृति (3/13-14)

55. अष्टाध्यायी (5/1/94)

था। कुछ विशेष अवसरों का उल्लेख है जिनमें शिक्षण कार्य नहीं किया जाता था। जैसे- बाहरी आक्रमण, डाकुओं का उत्पात, राजा या विद्वानों का आकस्मिक निधन, गुरुकुल में विशिष्ट अतिथियों का आगमन, प्राकृतिक प्रकोप आदि। धर्म सूत्रों में शिक्षण कार्य के दौरान अवकाश दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।⁽⁵⁶⁾ मनु स्मृति में वर्णन है कि मौसम अस्थिर होने पर, प्राकृतिक प्रकोप होने पर या अनुपयुक्त समय में अध्ययन कार्य नहीं करना चाहिए।⁽⁵⁷⁾

ऐसा प्रतीत होता है कि पर्ण कुटियों में प्रतिकूल मौसम को सहन करने की क्षमता नहीं थी। इसलिए उस समय अध्ययन कार्य रोक दिया जाता था। अवकाश के लिए शकुन-अपशकुन का विचार भी किया जाता था। सियार, गधे, कुत्ते और बिल्ली का रोना अपशकुन माना जाता था और उस समय अध्ययन - अध्यापन स्थगित कर दिया जाता था।⁽⁵⁸⁾ ऐसी परिस्थितियों में ऋषियों की मान्यता थी कि अपशकुन की स्थिति में पवित्र ग्रन्थों की पवित्रता प्रभावित होती है और संबंधित ग्रन्थों के देवता नाराज हो जाते हैं। अतः ऐसी स्थिति में पढ़ाई नहीं करवाना चाहिए।

धीरे-धीरे अपशकुन-शकुन का प्रभाव कम होने लगा। धर्म सूत्रों में ही इस बात की अनुमति दी गई कि यदि परिस्थितियां प्रतिकूल हों तो भी मन से अध्ययन करना चाहिए।⁽⁵⁹⁾ लेकिन यदि प्राकृतिक परिस्थितियां ही प्रतिकूल हों, त्यौहार हो, अशौच हों तो अध्ययन नहीं करना चाहिए।⁽⁶⁰⁾ याज्ञवल्क्य का मत था कि बादल कड़कने पर, अमावस्या या पूर्णिमा के दिन अध्ययन कार्य नहीं करना चाहिए।⁽⁶¹⁾ मनु स्मृति में वर्णन है कि शिक्षादि वेदांगों में नित्य संपन्न होने वाले ब्रम्ह यज्ञ, स्वाध्याय और हवन कर्म में उपयुक्त समयों को अनध्याय नहीं माना जाता।⁽⁶²⁾ इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे विद्यार्थियों में परिपक्वता बढ़ती थी, वे न्यूनतम अवकाश लेते थे। तैत्तिरीय आरण्यक और मनु स्मृति में उल्लेख मिलता है कि जब

56. बोधायन धर्म सूत्र (1/11) तथा गौतम धर्म सूत्र (2/7)

57. मनु स्मृति (2/102-117)

58. याज्ञवल्क्य स्मृति (1/142/51)

59. बोधायन धर्म सूत्र (1/11/40)

60. विष्णु पुराण (3/12/36)

61. याज्ञवल्क्य स्मृति (45-6)

62. मनु स्मृति (2/105)

63. तैत्तिरीय आरण्यक (2/15) तथा मनु स्मृति (4/127)

विद्यार्थी स्वयं अपवित्र हो या अध्ययन करने का स्थान अपवित्र हो, तभी अवकाश लिया जाता था। सामान्य परिस्थिति में माह में केवल 4 अवकाश लिये जाते थे।⁽⁶³⁾

प्राचीन आचार्यों का मत था कि पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए विद्यार्थी सुपात्र होना चाहिए। उस समय प्रवेश के लिए कोई प्रवेश परीक्षा, अंक सूची, चरित्र प्रमाण पत्र जैसी आधुनिक व्यवस्थाएं नहीं थी, लेकिन विद्यार्थी में सभी आवश्यक गुण अपेक्षित थे। विद्यार्थी का परीक्षण किया जाता था और जो गुरुकुल के मापदण्डों पर खरा उतरता, उसे ही प्रवेश प्राप्त होता था। साधारणतः प्रवेशार्थी छात्र आचार्य के सम्मुख तीन समिधाएं लेकर उपस्थित होता था। आचार्य उसका परिचय प्राप्त करते और उसके गुणों से संबंधित प्रश्न करते थे। यदि आचार्य संतुष्ट होते तो ही उसे प्रवेश मिलता था अन्यथा उसे वापस लौटा दिया जाता था।

मैत्रायण उपनिषद में उल्लेख है कि ब्रह्म ज्ञान उसी को दिया जाना चाहिए जो गुरु में पूर्ण निष्ठा रखे और आवश्यक गुणों से संपन्न हो।⁽⁶⁴⁾ उत्तर वैदिक काल में आध्यात्मिक शिक्षा पिता द्वारा दी जाती थी। लेकिन कुछ विद्यार्थी पिता के अतिरिक्त अन्य गुरु से भी शिक्षा प्राप्त करते थे। निरुक्त में स्वयं विद्या के मुख से ब्राह्मण को कहलवाया गया है कि अयोग्य विद्यार्थी को विद्या प्रदान न की जाए।⁽⁶⁵⁾ मनु स्मृति में भी लिखा है कि अयोग्य को ज्ञान देने के बजाय आचार्य ने अपने ज्ञान के साथ स्वर्गवासी होना चाहिए।⁽⁶⁶⁾

प्राचीन विश्वविद्यालयों में अलग-अलग प्रकार के प्रवेश नियमों की जानकारी मिलती है। तक्षशिला विश्वविद्यालय में सभी विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाता था। लेकिन नालंदा विश्वविद्यालय में प्रवेश परीक्षा कठिन होती थी। उसमें द्वार पंडित सर्वप्रथम परीक्षा लेते थे। यही परम्परा विक्रमशिला विश्वविद्यालय में भी प्रचलित थी।

जातक ग्रन्थों में उल्लेख है कि प्रवेश के प्रथम दिवस ही ज्यादातर परीक्षार्थी असफल हो जाते थे और दस में 1 या 2 ही उत्तीर्ण होते थे।⁽⁶⁷⁾

64. मैत्रायण ब्राम्हण उपनिषद (6/29)

65. निरुक्त (2/2)

66. मनु स्मृति (2/113)

67. जातक निकाय (2/4)

अध्ययन पद्धति

इस अध्याय और पूर्व के अध्यायों में यह उल्लेख और प्रमाणित किया गया है कि प्राचीन भारत में शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश्य विद्यार्थी को सर्वगुण संपन्न बनाना और उसके व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करना था। इसलिए आचार्यों ने इस प्रकार की पद्धति विकसित की जिससे विद्यार्थी को अपने में निहित सर्वश्रेष्ठ तत्व के उद्घाटन में मदद मिले जिससे वह न केवल आत्म साक्षात्कार कर सके अपितु उसकी विद्या समाज के लिए उपयोगी भी हो।

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों तत्वों का श्रेष्ठ समन्वय प्राप्त होता है। उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि विद्यार्थी को ज्ञानार्जन की तीनों प्रक्रियाओं- श्रवण, मनन और निदिध्यासन के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए। “श्रवण” के अंतर्गत शिष्य द्वारा सावधानी से गुरु के वचन सुने जाते थे। “मनन” के अंतर्गत वह गुरु के वचनों को बौद्धिक रूप से आत्मसात करता था तथा “निदिध्यासन” के द्वारा वह उसकी साधना में अनुभूति करता था। मनु स्मृति का मत था कि तत्व ज्ञान की प्राप्ति चार माध्यमों से की जा सकती है- शिक्षक से, अपनी बुद्धि से, मित्रों और सहपाठियों से तथा अनुभव से।⁽⁶⁸⁾ प्राचीन भारत की प्रमुख शिक्षण पद्धतियों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है -

1. मौखिक या कंठस्थीकरण पद्धति -

प्राचीन भारत में लिपि की जानकारी नहीं थी। कंठस्थ करने के माध्यम से गुरु से शिष्य को ज्ञान का प्रवाह होता था। यह वैदिक ज्ञान पीढ़ियों से कंठस्थीकरण की पद्धति के माध्यम से ही प्रसारित हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन है कि नारद मुनि की शिक्षा कंठस्थीकरण के द्वारा ही हुई थी।⁽⁶⁹⁾ इसी उपनिषद् में आरूणी और श्वेतकेतु के संवाद का भी उल्लेख है। श्वेतकेतु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का उच्चारण नहीं कर पा रहा था क्योंकि वह भूखा था। भोजन के पश्चात् उसे अपने ज्ञान का स्मरण हो आता है।⁽⁷⁰⁾ जब विषय गंभीर और कठिन होता तो आचार्य उसका प्रवचन करता था। इस हेतु संधि और संधान शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य और शिष्य के बीच विद्या को “संधि” कहा गया था और प्रवचन को “संधान”

68. मनु स्मृति (2/208)

69. छान्दोग्य उपनिषद् (7/1/2)

70. छान्दोग्य उपनिषद् (6/7/2)

71. तैत्तिरीय उपनिषद् (1/3/2-3)

माना गया था। इस बात का उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद में प्राप्त होता है।⁽⁷¹⁾ शिष्य पूर्ण सावधान होकर आचार्य का उपदेश सुनते। यह पद्धति सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के शिक्षण में प्रयोग की जाती थी।

मौखिक पद्धति के अंतर्गत ही व्याख्यान पद्धति प्रचलित थी। जब विषय गंभीर होता तो उसे व्याख्यान के माध्यम से स्पष्ट किया जाता था। प्रत्येक व्याख्यान पर चिन्तन किया जाता था।⁽⁷²⁾ याज्ञवल्क्य ने एक स्थान पर कहा है कि - मैं व्याख्यान करूंगा, तुम मेरे व्याख्यान किये गये वाक्यों का मनन करना।⁽⁷³⁾ आचार्य यह भी प्रयत्न करते थे कि व्याख्यान के समय विद्यार्थी का मन इधर-उधर नहीं भटके, इसके लिए विभिन्न उदाहरण दिये जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा से जगत और सृष्टि का संबंध बताते हुए उदाहरण दिया गया है कि आत्मा से समस्त प्राणलोक, देवगण तथा भूतादि विविध रूपों में वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे मकड़ी तंतुओं पर ऊपर की ओर जाती है और अग्नि से चिंगारियां निकलती है।⁽⁷⁴⁾ इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में भी उदाहरण देते हुए बताया गया है कि जैसे अग्नि में कुशा का अग्र भाग प्रविष्ट कर देने से जल जाता है, उसी प्रकार हवन करने वाले के पाप नष्ट हो जाते हैं।⁽⁷⁵⁾

इस प्रकार की मौखिक पद्धति विद्यार्थियों को समझने में आनन्ददायक प्रतीत होती थी। मौखिक चर्चा का एक गंभीर उदाहरण हमें बृहदारण्यक उपनिषद् (3/6/38) में याज्ञवल्क्य और गार्गी के शास्त्रार्थ के दौरान प्राप्त होता है। शास्त्रार्थ के दौरान गार्गी ने अत्यंत जटिल प्रश्न किये थे और याज्ञवल्क्य ने अक्षर अविनाशी ब्रह्म तथा ब्रह्म को जानने वाले व्यक्ति का उल्लेख किया था। मौखिक शिक्षा पद्धति जैन और बौद्धकाल में भी विशेष रूप से प्रचलित थी।

2. प्रश्नोत्तर पद्धति

इस पद्धति का उल्लेख सर्वप्रथम उपनिषदों में प्राप्त होता है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से आचार्य और शिष्य के बीच विभिन्न प्रश्न होते और शिष्य की जिज्ञासाओं का आचार्य समाधान करता। इससे आध्यात्मिक रहस्यों का स्पष्टीकरण बड़े प्रभावी ढंग से हो पाता था। प्रश्न

72. तैत्तिरीय उपनिषद (1/2/1)

73. बृहदारण्यक उपनिषद (4/2/2)

74. बृहदारण्यक उपनिषद (2/1/20)

75. छान्दोग्य उपनिषद (5/24/2)

उपनिषद् में इस प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें बताया गया है कि विभिन्न ऋषियों के शिष्य अलग-अलग जिज्ञासाएं लेकर आचार्यों के पास गये थे और आचार्यों ने सबका संतोषजनक समाधान किया था।⁽⁷⁶⁾ यह पद्धति बौद्ध काल में भी प्रचलित थी।

जब आचार्य के उत्तरों से शिष्य पूरी तरह संतुष्ट नहीं होता तो वह अनुप्रश्न भी पूछ सकता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसी प्रकार के अनुप्रश्नों का उल्लेख मिलता है।⁽⁷⁷⁾ शिष्यों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न विभिन्न प्रकार के होते थे। इन प्रश्नों में ज्ञान के साथ-साथ विवाद के लिए किए जाने वाले प्रश्न भी सम्मिलित थे।⁽⁷⁸⁾ ब्रम्हविदों के प्रश्नों का उत्तर दिया जाता था, लेकिन अति प्रश्न से मस्तिष्क फट जाने की बाद भी कही गई थी।⁽⁷⁹⁾ इसका अर्थ यह है कि अनावश्यक बहस के लिए प्रश्न पूछने के स्थान पर उचित प्रश्नों को महत्व दिया जाता था।

गीता के चौथे अध्याय के चौतीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि ठीक प्रकार से दंडवत प्रणाम, सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त कर। वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। इससे स्पष्ट है कि प्रश्नोत्तर पद्धति प्राचीन भारत में विद्यार्थी की शंकाओं का समाधान करने के लिए उपयोगी थी।

3. शास्त्रार्थ पद्धति - प्राचीन समय में विद्वानों की सभाओं में महिलाएं भी सम्मिलित होती थीं इस बात का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है।⁽⁸⁰⁾ धीरे-धीरे विद्वानों की ये सभाएं या गोष्ठियां, शास्त्रार्थ सभा के रूप में विकसित हो गईं। शतपथ ब्राम्हण में उल्लेख मिलता है कि इसी प्रकार की एक गोष्ठी में याज्ञवल्क्य का शाकल्य से शास्त्रार्थ हुआ था।⁽⁸¹⁾ इसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि उद्दालक, आरुणि और सौचेय प्राचिनी में शास्त्रार्थ हुआ था, जिसका विषय ब्रम्ह विद्या से संबंधित था।⁽⁸²⁾

वात्स्ययन ने कामसूत्र में उल्लेख किया है कि प्राचीन भारत में शास्त्रार्थ के लिए विद्वानों

76. प्रश्न उपनिषद् (1/1)

77. तैत्तिरीय उपनिषद् (2/6/1)

78. प्रश्न उपनिषद् (3/2)

79. बृहदारण्यक उपनिषद् (3/6/1)

80. ऋग्वेद (10/71/11)

81. शतपथ ब्राम्हण (11/6/31)

82. शतपथ ब्राम्हण (11/5/3-11)

की गोष्ठियां आयोजित होती थीं। इन गोष्ठियों में मधुर वार्ता के लिए लोग एकत्र होते थे। साहित्य तथा धर्म से संबंधित अनेक परिचर्चाएं आयोजित होती थी और कई विद्वानों की प्रतिभाएं प्रकट होती थी। शास्त्रार्थ पद्धति की यह परम्परा हर्षवर्द्धन के समय भी चली, जिसका उल्लेख बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है। इसमें लिखा है कि विभिन्न विषयों पर ज्ञान चर्चा आयोजित करने के लिए विद्वानों की गोष्ठियां आयोजित होती थी। ये गोष्ठियां मुख्यतः चार प्रकार की होती थी- विद्या गोष्ठी, काव्य गोष्ठी, प्रमाण गोष्ठी, वीर गोष्ठी। विद्या गोष्ठी विद्वानों की सभा थी।⁽⁸³⁾ काव्य गोष्ठी का संबंध प्रबन्धों के विषय और रचना से था।⁽⁸⁴⁾ प्रमाण गोष्ठी में विभिन्न विषयों की प्रामाणिकता से संबंधित चिन्तन होता था, ⁽⁸⁵⁾ जबकि वीर गोष्ठी में वीरता से संबंधित या शौर्य से संबंधित विषयों की चर्चा होती थी।⁽⁸⁶⁾ विद्वानों के ये शास्त्रार्थ शिक्षा की विभिन्न पद्धति में विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। शास्त्रार्थ की यह पद्धति जैन और बौद्ध परम्परा में भी विशेष रूप से प्रचलित रही।

4. प्रत्यक्षीकरण पद्धति- आधुनिक युग में जिस प्रकार विद्यार्थियों को प्रयोग करके विषय का ज्ञान देने का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन काल में विषय को सरल रूप से आत्मसात कराने के लिए प्रत्यक्षीकरण पद्धति का प्रयोग किया जाता था। इसमें छोटे-छोटे प्रयोग स्वयं विद्यार्थी से करवाये जाते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन आता है कि एक बार आरुणि से उनके शिष्य श्वेतकेतु ने विश्व की उत्पत्ति का रहस्य जानना चाहा। उत्तर में श्वेतकेतु से वटवृक्ष का फल मंगवाकर उसे फोड़ने के लिए कहा। जब श्वेतकेतु को फल के छोटे-छोटे दाने दिखाई दिए, तब उसे अणु का ज्ञान कराया गया।⁽⁸⁷⁾ इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में चेतना का उदाहरण आचार्य ने दिया है।⁽⁸⁸⁾ जब सोये हुए पुरुष को नाम से पुकारा जाता है तो वह नहीं उठता लेकिन उसका हाथ दबाकर जगाने से वह उठ जाता है। इस प्रकार के प्रयोग से विद्यार्थी को व्यवहारिक बात समझाने का प्रयत्न किया जाता था।

83. अर्थचरित (सर्ग-1)

84. कादम्बिरी (पृ.4)

85. हर्षचरित (सर्ग-3)

86. हर्षचरित (सर्ग-1)

87. छान्दोग्य उपनिषद् (6/12/1)

88. बृहदारण्यक उपनिषद् (2/1/15-16)

5. **अन्य पद्धतियां-** उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में शिक्षण के लिए मौखिक कंठस्थ पद्धति, आवृत्ति और पुनरावृत्ति पद्धति, सूत्र पद्धति, तर्क और व्याख्यान पद्धति, साहित्य वाद-विवाद पद्धति आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्राचीन काल में लिपि की जानकारी नहीं होने के कारण शिक्षा मौखिक दी जाती थी। जो पुस्तकें उपलब्ध थीं भी, वह भोजपत्रों पर लिखी होने के कारण अत्यंत दुर्लभ और बहुमूल्य रही होंगी। इसलिए सामान्य विद्यार्थी उन पुस्तकों को प्राप्त करने में अत्यंत कठिनाई का अनुभव करते थे। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों ने पाठ को कंठस्थ करने की पद्धति पर ही बल दिया।⁽⁸⁹⁾ इसका प्रभाव यह हुआ कि अध्ययन की **कंठस्थ पद्धति** प्रचलन में आ गई। यह पद्धति इतनी आदरणीय हो गई कि पुस्तकों की सहायता से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को घृणित दृष्टि से देखा जाना लगा। उसी ज्ञान को महत्व दिया जाना लगा जो मुखाग्र हो।⁽⁹⁰⁾

जब कंठस्थ पद्धति प्रयोग में आई तो उस पाठ को पुनः दोहराने के लिए **आवृत्ति और पुनरावृत्ति पद्धति** का प्रचलन प्रारंभ हो गया। विद्यार्थी अपनी पाठशाला में प्रतिदिन निश्चित समय में अपने पाठ को दोहराया करते थे। इसका प्रभाव यह हुआ कि विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति तीव्र हो गई। स्मरण की सुविधा के लिए पाठों को काव्य रूप में तैयार किया जाने लगा। इसी के साथ **सूत्र पद्धति** का विकास प्रारंभ हो गया। विद्यार्थियों के लिए छोटे-छोटे वाक्यों में विषयों को सूत्रबद्ध करने की परम्परा प्रारंभ हो गई।

अध्यापन की पद्धति के रूप में ऋग्वेद में **साहित्यिक वाद-विवाद पद्धति** का उल्लेख प्राप्त होता है।⁽⁹¹⁾ इस वाद-विवाद में जो विद्यार्थी विजयी होता, उसे पुरस्कृत किया जाता। इस वाद-विवाद का उद्देश्य जय-पराजय ही नहीं था अपितु गुरु-शिष्य के बीच शंकाओं का निवारण भी वाद-विवाद के माध्यम से होता था। धर्म सूत्रों में उल्लेख है कि यदि वाद-विवाद के समय यह पता चलता कि पाठ का कोई हिस्सा विद्यार्थी भूल गया है तो पहले पुराना पाठ पढ़ाया जाता था।⁽⁹²⁾ कनिष्ठ विद्यार्थियों को अभ्यास कराने के लिए वरिष्ठ विद्यार्थियों की

89. पाणिनीय शिक्षा (31)

90. सुभाषित रत्न भाण्डारगार (413)

91. ऋग्वेद (10/71)

92. बौधायन धर्म सूत्र (3/77)

93. आपस्तम्ब धर्म सूत्र (2/7/38)

सहायता भी ली जाती थी। ऐसे विद्यार्थियों को वृद्धतर ब्रम्हचारी कहा जाता था। धर्म सूत्रों में उल्लेख है कि ऐसे ब्रम्हचारी को भी आचार्य के समान ही आदर दिया जाना चाहिए।⁽⁹³⁾

अध्यापन की पद्धतियों के अंतर्गत शब्दों के सुन्दर चयन और उनके सुन्दर अर्थ की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया जाता था। ब्राम्हण ग्रन्थ में उल्लेख है कि सुबह पक्षियों के कलरव के पूर्व ही ब्रम्हचारी द्वारा वेद पाठ प्रारंभ कर दिया जाता था।⁽⁹⁴⁾ आचार्य के कुल में निवास करने वाले वेदों की अलग-अलग शाखाओं के अनुयायी अपने प्रचलित पाठों को कंठस्थ करके मधुर स्वर में गायन करते थे।⁽⁹⁵⁾ उच्चारण शुद्ध करना आवश्यक होता था, अन्यथा विद्यार्थी को सजा भी मिलती थी।⁽⁹⁶⁾ अशुद्ध उच्चारण करने वाले को कुल से वंचित करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।⁽⁹⁷⁾ मंत्रों का अर्थ जानने के बाद ही उसका उच्चारण करने पर बल दिया जाता था, अन्यथा विपरीत स्थिति में इसे निन्दनीय माना गया था।⁽⁹⁸⁾ वेद मंत्रों का अर्थ न जानने वाला व्यक्ति मूर्ख और भार ढोने वाला कहा जाता था।⁽⁹⁹⁾ शिक्षाविदों का यह मत था कि बिना अर्थ जाने केवल रटने से बुद्धि में प्रकाश नहीं आ सकता।

जब उत्तर वैदिक काल में पाठ्य विषयों का स्वरूप विस्तृत हुआ तो अध्ययन के लिए प्रवचन, व्याख्यान, वाक्-सवाद, शास्त्रार्थ, प्रत्यक्षीकरण, कंठस्थीकरण, चिन्तन एवं मनन की पद्धतियों को अपनाया गया।

शस्त्र विद्या के अंतर्गत अध्यापन की पद्धति के रूप में **धनुर्वेदीय उपनयन एवं छुरिका बन्ध पद्धति** का उल्लेख मिलता है। इसके अंतर्गत किसी शुभ दिन को विद्यार्थी को व्रत रखना पड़ता था फिर उसे निर्धारित तरीके से शस्त्र दिया जाता था।⁽¹⁰⁰⁾ ब्राम्हण को धनुष, क्षत्रिय को खड़ग, वैश्य को भाला और शूद्र को गदा दी जाती थी। सैन्य शिक्षा के समापन पर

94. ऐतरेय ब्राम्हण (2/15)

95. महाभाष्य (2/4/3)

96. महाभाष्य (1/1)

97. तैत्तिरीय उपनिषद् (1/1/2)

98. निरुक्त (1/18-19)

99. ऋग्वेद (10/71/5)

100. वशिष्ठ की धनुर्वेद संहिता

101. अर्थशास्त्र-1

छुरिका बन्ध संस्कार होता था। सैन्य शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण विद्यालय अलग-अलग स्थान पर खोले जाने लगे थे।⁽¹⁰¹⁾

आयुर्वेद के विद्यार्थियों को अग्नि को साक्षी मानकर अध्यापन कराने की परम्परा थी।⁽¹⁰²⁾ प्रारंभ में तरबूजे, खीरे, लौकी, आलू पर शल्य चिकित्सा के औजार चलाना सिखाया जाता था। इसके पश्चात मृत पशुओं के शवों पर धमनियों को छेदने की कला सिखाई जाती थी। घाव की जानकारी पतले चमड़े से दी जाती थी। घाव पर पट्टी लगाने के अभ्यास के लिए घास से बने हुए मानव के पुतले का प्रयोग किया जाता था।⁽¹⁰³⁾ सुश्रुत ने माना है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।⁽¹⁰⁴⁾ इसलिए वे अपने शिष्यों को मृत शरीर का छेदन करके व्यावहारिक प्रशिक्षण देते थे।

इस प्रकार प्राचीन भारत के आचार्यों ने शिक्षा को केवल सैद्धांतिक नहीं बनाए रखा, अपितु व्यावहारिक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया। आचार्यों का यह प्रयास होता था कि वे अपने शिष्यों को इतना योग्य कर दें कि वह भविष्य में अन्य शिष्यों को गुरु के समान ही योग्य बना सकें।

परीक्षा पद्धति-

प्राचीन भारत के आचार्यों ने माना कि गुरुकुल में विद्यार्थी को केवल ज्ञान देना ही आवश्यक नहीं है, अपितु यह देखना भी आवश्यक है कि वास्तव में विद्यार्थी ने उसे सीखा है कि नहीं। प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि उन दिनों अध्यापन कार्य के पश्चात विद्यार्थी की परीक्षा ली जाती थी। यह सत्य है कि उस समय की परीक्षाएं वर्तमान युग की परीक्षाओं के समान नहीं थी, लेकिन आचार्य अपने विद्यार्थी की योग्यता का मूल्यांकन अवश्य करते थे।

सामाजिक दृष्टि से अपने शिष्यों को शस्त्र विद्या सिखाने के पश्चात स्वयं आचार्य द्रोण

102. सुश्रुत, सूत्र स्थान (द्वितीय अध्याय) (178)

103. सुश्रुत, सूत्र स्थान (अध्याय-9)

104. सुश्रुत शरीर स्थान (5-49)

105. महाभारत आदि पर्व (124/3)

राजन्सम्प्राप्तविद्यास्ते कुमारः कुरुसत्तम।

ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव।

ने शिष्यों को शस्त्र कौशल का प्रदर्शन आवश्यक समझा था। इस बात का उल्लेख महाभारत के आदि पर्व में प्राप्त होता है।⁽¹⁰⁵⁾ जिस प्रकार विद्यार्थी के लिए प्रवेश करते समय परीक्षा होती थी। उसी प्रकार अध्ययन के दौरान विद्यार्थी की सतत परीक्षा ली जाती थी। जो विद्यार्थी उच्च श्रेणी प्राप्त करते, उन्हें ही आगे ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता होती थी। छान्दोग्य उपनिषद् तथा कठोपनिषद् में सत्यकाम जाबाल तथा नचिकेता की शिक्षा व मूल्यांकन के विषय में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।

परीक्षा की दृष्टि से पाणिनी और कौटिल्य ने विशेष चिन्तन किया है। पाणिनी द्वारा अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में तथा कौटिल्य द्वारा अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में परीक्षा एवं मूल्यांकन पद्धति की चर्चा की है। पाणिनी ने इस दृष्टि से विद्यार्थियों को दो भागों में बांटा है। प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी “श्रोत्रिय” कहलाते थे। ये केवल वेदों की ऋचाओं और अन्य धर्म शास्त्र के मंत्रों को याद कर लेते लेकिन उनका अर्थ नहीं जानते थे। इसलिए इन विद्यार्थियों को पठम् पाठी कहा जाता था। दूसरी श्रेणी के विद्यार्थी “वेदनम्” कहलाते थे। इनके लिए आवश्यक था कि वे वैदिक मंत्रों का अर्थ समझें। पाणिनी ने बारह वर्ष तक वेद पाठ करने वाले विद्यार्थियों के पाठों का विभाजन किया। इन पाठों को वृत्त कहा जाता था। ये वृत्त विद्यार्थियों को एक के बाद एक क्रम से पढ़ना होते थे। यह एक प्रकार का सतत् मूल्यांकन था। इन वृत्तों के नाम - सवित्र वृत्त, सुक्रिय वृत्त, अनुवाचन वृत्त, साकवार वृत्तिका आदि थे। इन वृत्तों में उन्हें विभिन्न वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करना होता था। जब तक विद्यार्थी एक वृत्त का अध्ययन पूर्ण नहीं कर लेता तब तक उसे अगले वृत्त की शिक्षा नहीं दी जाती थी। इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वृत्त के अध्ययन पर विद्यार्थी का परीक्षण होता था।

कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र (1/17) में विद्यार्थियों को उनकी बुद्धिमानी के अनुसार तीन भागों में बांटा है- अति बुद्धिमान, मध्यम बुद्धिमान, मन्द बुद्धि। महाभारत काल में शस्त्रों के प्रयोग की परीक्षा के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। द्रोणाचार्य ने एक बार नदी में एक बनावटी मगरमच्छ से अपना पैर पकड़वा लिया था। अर्जुन ने इस चतुराई से मगरमच्छ के मुँह में बाण चलाये थे कि द्रोणाचार्य को एक भी बाण नहीं लगा और मगर का मुँह खुला ही रह गया। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर द्रोणाचार्य ने अर्जुन को श्रेष्ठ धनुर्धर बनने का आशीर्वाद दिया था। रामायण में भी विश्वामित्र के द्वारा श्रीराम और लक्ष्मण की परीक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है।

शिक्षा समाप्ति के समय होने वाले समावर्तन संस्कार के समय जब आचार्य अपने विद्यार्थी का विद्वानों से परिचय कराते तो विद्यार्थी से कुछ प्रश्न पूछे जाते थे। विद्यार्थी उनका उत्तर देता था, जिससे उसकी शिक्षा का स्तर ज्ञात हो जाता था। अध्ययन समाप्ति पर परीक्षा लेने का प्रारम्भ पाणिनी द्वारा किया गया। पाणिनी ने विद्यार्थियों द्वारा वेदों के शुद्ध उच्चारण पर अत्यधिक जोर दिया। उच्चारण के आधार पर विद्यार्थी की श्रेणी का निर्धारण किया जाता था। यदि कोई विद्यार्थी उच्चारण के समय एक त्रुटि करता तो उसे एकन्यिकः कहा जाता। दो त्रुटियां करने वाले को द्विन्यिकः कहा जाता तथा बारह तक त्रुटि करने वाले को द्वादशान्यिक कहा जाता था।

प्राचीन भारत के विश्वविद्यालयों में नालन्दा विशेष उल्लेखनीय था, लेकिन वहां पाठ्यक्रम समाप्ति के पश्चात किसी परीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता था। एकमात्र विश्वविद्यालय मिथिला विश्वविद्यालय था, जहां अंतिम परीक्षा होती थी। इस परीक्षा को शलाका परीक्षा कहा जाता था। इस परीक्षा में विद्यार्थी की पांडुलिपि के पृष्ठों में एक शलाका या सुई चुभोई जाती थी। जितने पृष्ठों में शलाका प्रवेश कर जाती, उसमें वर्णित विषय पर विद्यार्थी से प्रश्न पूछे जाते थे। यदि कोई विद्यार्थी उन सबका सही उत्तर दे देता तो उसे सर्वभामा की उपाधि दी जाती थी। इसका अर्थ होता था- सबकुछ जानने वाला।

यह सत्य है कि प्राचीन भारत के आचार्यों ने मोटे तौर पर कोई औपचारिक परीक्षा पद्धति निर्धारित नहीं की। आचार्य की संतुष्टि और अधिक से अधिक सभा के विद्वानों की संतुष्टि ही विद्यार्थी की परीक्षा का प्रमाण मान ली गई थी।⁽¹⁰⁶⁾ इसका आशय यह है कि पंडित सभा की स्वीकृति से ही विद्यार्थी को स्नातक की उपाधि प्राप्त होती थी।⁽¹⁰⁷⁾ राजशेखर द्वारा राजसभा में आयोजित होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख अवश्य किया गया है।⁽¹⁰⁸⁾ लेकिन ये परीक्षाएं वर्तमान उपाधि परीक्षा से भिन्न थीं। शास्त्रार्थ में विजेता होने पर विद्वान परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता था।⁽¹⁰⁹⁾

106. बृहदारण्यक उपनिषद (6/2/1/2)

107. द्राह्मण्य गृह सूत्र (3/1/26)

108. काव्य मीमांसा (पृ.55)

109. बृहदारण्यक उपनिषद (3/5/1/12)

प्राचीन भारत में परीक्षा उत्तीर्ण करने पर किसी प्रकार का प्रमाण पत्र प्राप्त करने का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन उत्तर बौद्धकाल में कुछ स्थानों में प्रमाण पत्र दिये जाते थे। वास्तव में विद्वान अपनी योग्यता के कारण सर्वत्र पूजे जाते थे। उनकी किसी औपचारिक परीक्षा की आवश्यकता नहीं थी और उन्हें राजा भी सम्मान देता था।

शिक्षण संस्थाओं की अर्थ-व्यवस्था

भारत की संस्कृति के अंतर्गत वर्णित चार पुरुषार्थों में धर्म, काम और मोक्ष के साथ-साथ अर्थ को भी स्थान दिया गया है। इस संबंध में विशेष बात यह है कि भारत में शेष तीनों चिन्तन धर्म प्रधान रहे हैं। यही कारण था कि अर्थ शास्त्र से संबंधित विचार भी धर्माधिष्ठित रहा। अर्थ में धर्म का समावेश होने के कारण दान की महिमा का अनेक अवसरों पर गुणगान किया गया। यही कारण था कि विद्या का दान हो या अन्न का दान या विद्या के लिए धन का दान हो, सभी को महत्व दिया गया था। धन के दाम से अधिक विद्यादान महत्वपूर्ण था। इस बात का उल्लेख स्मृति चंद्रिका में प्राप्त होता है।⁽¹¹⁰⁾

आचार्यों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे विद्या का दान करेंगे। धन लेकर विद्या देना उपयुक्त नहीं माना जाता था। बदले में समाज से अपेक्षा थी कि आचार्यों की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए समुचित सहयोग प्रदान करेंगे। इस सहयोगात्मक स्थिति का परिणाम यह हुआ कि जनता द्वारा और राजा द्वारा दिये जाने वाले दान या आर्थिक सहयोग ही शिक्षण संस्था की आय के प्रमुख साधन बन गये। उस समय नियमित शुल्क जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसलिए शिक्षा में व्यवसायीकरण का कोई प्रश्न ही नहीं था।

प्राचीन भारत में समाज के लिए यह निंदनीय माना जाता था कि विद्यार्थी धन के अभाव में शिक्षा से वंचित रहे और यदि कोई समाज का घटक शिक्षा के लिए धन नहीं देता तो उसे पापपूर्ण समझा जाता था। शासन के साथ-साथ समाज के प्रत्येक घटक से यह अपेक्षा की जाती थी कि शिक्षा हेतु उसका समुचित सहयोग प्राप्त हो सकेगा। धर्म सूत्रों में यह उल्लेख है कि प्रत्येक ब्रह्मचारी को भिक्षा देना चाहिए, शिक्षा समाप्ति के पश्चात आचार्य को दक्षिणा दी जाना चाहिए। श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को दान दिया जाना चाहिए। विभिन्न त्यौहारों, उत्सवों या

110. स्मृति चंद्रिका (पृ. 145)

अन्य अवसरों पर आचार्यों को भोजन कराना और दान देना चाहिए, शैक्षणिक संस्थाओं के निर्विघ्न संचालन के लिए करमुक्त भूमि देना चाहिए आदि। यदि किसी विद्यार्थी को भिक्षा दिये बिना लौटा दिया जाता तो पूरा कुटुम्ब पाप का भागीदार माना जाता था।⁽¹¹¹⁾ ऐसी मान्यता थी कि ब्रम्हचारी, यति और भिक्षु का जीवन गृहस्थों के दान पर निर्भर है।⁽¹¹²⁾ इसलिए प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि आगन्तुक विद्यार्थी को भिक्षा अवश्य दे।⁽¹¹³⁾ उपनयन और विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कारों पर भी विद्वानों को पर्याप्त दान प्राप्त होता था।⁽¹¹⁴⁾

प्राचीन भारत के लगभग सभी धर्मशास्त्रों में शिक्षा को प्रोत्साहन देना राजा का पवित्र कर्तव्य बताया गया है।⁽¹¹⁵⁾ भीष्म ने विशेष रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि राजा विद्वानों को आश्रय तो देते थे लेकिन उनके साथ आश्रितों जैसा व्यवहार नहीं करते थे। राजा जब किसी शैक्षणिक संस्था में या किसी विद्वान से मिलने जाते तो अपनी सेना पीछे छोड़कर जाते थे। यह परम्परा बाद में भी जारी रही। अश्वघोष, चरक और सुश्रुत जैसे विद्वानों को कनिष्क द्वारा राजकीय आश्रय दिया गया था, सातवाहन वंश के शासकों द्वारा विद्वानों को आश्रय दिया गया था, गुप्त वंश के शासकों द्वारा नालंदा को करमुक्त भूमि दी गई थी, हर्षवर्द्धन ने बाणभट्ट को, यशोवर्मन ने भवभूति को, महेन्द्रपाल और महीपाल ने राजशेखर को राजकीय आश्रय दिया था। ऐसे अनेक उदाहरण प्राचीन इतिहास में प्राप्त होते हैं।

योग्य और विद्वान विद्यार्थियों को राजा की ओर से छात्रवृत्ति दिये जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।⁽¹¹⁶⁾ राजकीय दरबारों में होने वाले शास्त्रार्थों में विजयी विद्वानों को पुरस्कार के नाम से धन मिलता था।⁽¹¹⁷⁾ समय-समय पर शासन द्वारा विद्वानों की गोष्ठियां आयोजित की जाती थीं। उनमें ब्रम्हविद्या के विषय में शास्त्रार्थ होता था और विजयी विद्वानों को धनराशि

111. आपस्तम्ब धर्म सूत्र (1/2/24-25)

112. विष्णु स्मृति (59/27)

113. गौतम धर्मसूत्र (5/16) तथा विष्णु पुराण (3/95) भिक्षान्नमशनीयात्।

114. याज्ञवल्क्य स्मृति (1/212)

115. अथर्ववेद (20/21), मनु स्मृति (7/82), याज्ञवल्क्य स्मृति (1/131), शुक्रनीति (1/369)

116. शुक्रनीति (1/368)

117. बृहदारण्यक उपनिषद (2/11)

118. बृहदारण्यक उपनिषद (3/1/1)

119. बृहदारण्यक उपनिषद (3/8/1) तथा (6/2/1)

मिलती थी।⁽¹¹⁹⁾ राजा इस बात को लेकर विशेष प्रयत्नशील होते थे कि उनके दरबार में अधिक से अधिक विद्वान उपस्थित हों, ⁽¹²⁰⁾ क्योंकि विद्वानों का अधिक होना राजा की प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता था।

यदि कोई विद्वान राजकीय सेवा से वंचित रह जाता तो उसे राज्य द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती थी और उसकी आजीविका चलती रहती थी। धर्म सूत्रों में वर्णन है कि ब्रह्मचारियों को दान देना राजा अपना परम कर्तव्य मानता था।⁽¹²¹⁾ गुरुदक्षिणा के लिए यदि कोई सहायता मांगता तो उसे विशेष सम्मान प्राप्त होता था।⁽¹²²⁾ यदि शासक को जमीन में गड़ा हुआ धन प्राप्त होता तो उसका आधा भाग विद्वानों को दिया जाता था।⁽¹²³⁾ यदि विद्वान को गड़ा हुआ धन मिलता तो वह पूरा हिस्सा अपने पास रख सकता था। यदि किसी सामान्य जन को गड़ा हुआ धन मिलता तो उसका छठा भाग राज्य को दिया जाता था।⁽¹²⁴⁾ **माह जून-जुलाई 2011 में त्रावणकोर के पद्मनाभ स्वामी मंदिर में प्राप्त अटूट संपदा के उपयोग के विषय में यह विचार प्रासंगिक है।**

शिक्षण व्यवस्था पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं था। यह कार्य विद्वानों द्वारा स्वयं किया जाता था। शिक्षण संस्थाओं पर नियन्त्रण के लिए कोई सरकारी नीति नहीं थी और कोई विशेष सरकारी अधिकारी नियुक्त नहीं किये जाते थे। गुप्त शासकों द्वारा नालंदा विश्वविद्यालय को जमीन दी गई थी। लेकिन यह शर्त नहीं थी कि शिक्षण संस्था शासन के अधीन होगी।

प्राचीन भारत के किसी भी ग्रन्थ में किसी भी प्रकार के नियमित शुल्क, प्रवेश शुल्क, शिक्षण शुल्क आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सर्वत्र निःशुल्क शिक्षा दिये जाने का वर्णन है। स्मृतियों में उल्लेख आता है कि धन के अभाव में किसी भी विद्यार्थी को पढ़ाई से वंचित नहीं किया जाए। ऐसा करने वाला अध्यापक ऋत्विक् कार्य के अयोग्य माना जाता था और

120. बृहदारण्यक उपनिषद (2/1/1)

121. रघुवंश (5/2)

122. आपस्तम्भ धर्म सूत्र (2/10/26) तथा वशिष्ठ धर्म सूत्र (15/19)

123. मनु स्मृति (8/35/9)

124. याज्ञवल्क्य स्मृति (2/34)

125. विष्णु स्मृति (3/39), माल्विकाग्निमित्र (1/17)

विद्या का व्यापारी कहकर उसकी निन्दा की जाती थी।⁽¹²⁵⁾ विद्यार्थी समित्पाणि होकर आचार्य के पास आता और ब्रम्हचारी बनता था।⁽¹²⁶⁾ विद्यार्थी और आचार्य के बीच किसी भी प्रकार की व्यवसायिक या अर्थलाभ की भावना का कोई स्थान नहीं था।⁽¹²⁷⁾ अभिभावक स्वेच्छा से आचार्य को धन देते थे और आचार्य उसे ग्रहण भी कर लेते थे लेकिन अभिभावकों को यह बता दिया जाता था कि संसार में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसका भुगतान करके शिक्षा का मूल्य चुकाया जा सके और आचार्य ऋण से मुक्त हो सकें।⁽¹²⁸⁾ इसके उपरान्त भी आचार्य अपने शिष्य को उपदेश देने के बाद ही उपहार ग्रहण करता था।⁽¹²⁹⁾ जब विद्या समाप्त होती तब ही आचार्य गुरुदक्षिणा लेने का अधिकारी होता था।⁽¹³⁰⁾ आचार्य कुल को संपन्न बनाने के लिए राजा विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करते थे।⁽¹³¹⁾ जो विद्यार्थी गुरुदक्षिणा नहीं दे पाता वह गुरुदक्षिणा अर्पित करने के लिए भिक्षा मांगता था और उसकी सहायता न करने वाले को निन्दनीय माना जाता था।⁽¹³²⁾

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षण कार्य की अर्थव्यवस्था सरकार और समाज के सहयोग से चलते हुए भी दबाव रहित थी। इस पर सरकार का कोई नियन्त्रण और हस्तक्षेप नहीं था। यह व्यावसायिकता के प्रलोभन से भी मुक्त थी और शिक्षण संस्थाओं की आय का मुख्य साधन उपहार, दान, सामाजिक एवं राजकीय सहयोग था।

स्त्री शिक्षा-

प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा के विषय में अनेक विचार प्राप्त होते हैं। ऋग्वेदिक काल में अनेक विदुषी स्त्रियों की जानकारी मिलती है, जिन्होंने अनेक मंत्रों की रचना की थी।⁽¹³³⁾

126. छान्दोग्य उपनिषद (5/11/7) तथा (8/7/2)

127. छान्दोग्य उपनिषद (4/2/1-3)

128. पाराशर स्मृति (1/2)

129. बृहदारण्यक उपनिषद (4/1/6)

130. बृहदारण्यक उपनिषद (4/1)

131. छान्दोग्य उपनिषद (4/2/1) तथा बृहदारण्यक उपनिषद (4/1/6)

132. रघुवंश (5/24)

133. ऋग्वेद (5/28/6) तथा (2/8/9)

134. ऋग्वेद (1/92/4) तथा (10/71/11)

ये विदुषियां विभिन्न सभाओं में भी भाग लेती थीं।⁽¹³⁴⁾ इन विदुषियों में रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, निवावरी, काक्षीवती आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।⁽¹³⁵⁾ इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्त्रियों को वेद का अध्ययन और यज्ञ संबंधी अधिकार प्राप्त थे और उन्हें व्यक्तिगत स्तर पर अनेक शिक्षाएं प्रदान की जाती थी, जिसका उपयोग कर वे पिता के कार्य में सहयोग प्रदान करती थीं।⁽¹³⁶⁾ उनकी विभिन्न योग्यताओं के बारे में उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं।⁽¹³⁷⁾ उन्हीं स्त्री-पुरुषों को विवाह के योग्य माना जाता था जो शिक्षित होते थे।⁽¹³⁸⁾ इसका कारण यह था कि वैदिक ज्ञान से वंचित स्त्रियों को सफल दंपत्य जीवन के योग्य नहीं माना जाता था।⁽¹³⁹⁾ ब्राम्हण ग्रन्थों में विदुषी स्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी अपने पति के साथ शास्त्रार्थों में जाती थी।⁽¹⁴¹⁾ गार्गी भी वैदिक ज्ञान में विशेषज्ञ थी।⁽¹⁴²⁾ गार्गी ने याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान को शास्त्रार्थ में चुप कर दिया था।⁽¹⁴³⁾ स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था और वे वैदिक ग्रन्थों का पठन-पाठन करती थीं।⁽¹⁴⁴⁾ इस बात का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है।⁽¹⁴⁵⁾ वैदिक स्त्रियों को वैदिक ज्ञान के साथ-साथ विभिन्न विषयों में दक्षता प्राप्त थी।⁽¹⁴⁶⁾ उनकी विद्वन्ता से प्रभावित होकर गृहस्थों द्वारा उनके प्रति आभार व्यक्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है।⁽¹⁴⁷⁾ यदि किसी कारणवश वैदिक शिक्षा प्राप्त करने में महिला असफल हो जाये तो वे विभिन्न व्यावहारिक विषयों, शिल्पों, गृह उपयोगी विषयों, ललित कलाओं, सैनिक शिक्षा आदि में विशेषज्ञ बनती

135. ऋग्वेद (1/39/40)

136. ऋग्वेद (8/91/5-6)

137. ऋग्वेद (2/32/4)

138. अथर्ववेद (11/5/18)

139. शुक्ल यजुर्वेद (8/1)

140. कौशीतकी ब्राम्हण (2/9)

141. बृहदारण्यक उपनिषद (2/4) तथा (4/5)

142. बृहदारण्यक उपनिषद (3/6/8)

143. बृहदारण्यक उपनिषद (3/6/1)

144. अथर्ववेद (11/5/18)

145. अथर्ववेद (2/36/1)

146. तैत्तिरीय संहिता (5/7)

147. आश्वलायन गृहसूत्र (3/4/4)

148. तैत्तिरीय संहिता (5/7) (6/1) (6/5) तथा मैत्रायण संहिता (3/73)

थीं।⁽¹⁴⁸⁾

सूत्रकाल में भी महिलाओं का उपनयन संस्कार होता था,⁽¹⁴⁹⁾ तथा उनका समावर्तन संस्कार भी होता था। गुरुकुलों में दो प्रकार की छात्राएं होती थीं - सद्योवधू एवं ब्रम्हवादिनी। सद्योवधू वे थीं जो विवाह के पूर्व तक ब्रम्हचर्य धर्म का पालन करती और फिर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थीं। ब्रम्हवादिनी वे थीं जो ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से आजीवन अविवाहित रहकर ब्रम्हचर्य जीवन का पालन करती थीं।⁽¹⁵¹⁾ इस बात का उल्लेख रामायण में भी प्राप्त होता है।⁽¹⁵²⁾

महाकाव्य काल में स्त्री शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन हो गया। अब वे व्यावहारिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देने लगीं। भीष्म ने कहा है कि स्त्रियों को पूज्य मानना चाहिए, क्योंकि जिस घर में स्त्रियों की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं।⁽¹⁵³⁾ रामायण काल में भी ऐसी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने आजीवन विद्याध्ययन किया।⁽¹⁵⁴⁾ उत्तरा ने अर्जुन से शिक्षा प्राप्त की थी।⁽¹⁵⁵⁾ कुन्ती अथर्ववेद की विद्वान थी।⁽¹⁵⁶⁾ पतंजलि के द्वारा लिखित महाभाष्य में वर्णन है कि जो स्त्रियां काशकृत्स्न द्वारा लिखित मीमांसा शास्त्र का अध्ययन करती थीं, उन्हें इसी नाम से जाना जाता था।⁽¹⁵⁷⁾

बौद्धकाल में स्त्रियों की वैदिक शिक्षा पर धीरे-धीरे प्रतिबन्ध लगाना प्रारंभ हो गया। मनु स्मृति में वर्णन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन, पति की सेवा ही उसका आश्रम और गृहस्थी के कार्य ही उसके धार्मिक अनुष्ठान होते हैं।⁽¹⁵⁸⁾ बाद में स्मृतिकारों

-
149. गोभिल गृहसूत्र (3/7) (13/2/7)
 150. आश्वलायन गृहसूत्र (3/8/11)
 151. हारीत संस्कार प्रकाश
 152. रामायण (7/17)
 153. महाभारत अनुशासन पर्व (40/46/5)
 154. रामायण (3/73)
 155. महाभारत (39)
 156. महाभारत (3/305)
 157. महाभाष्य (4/1/14)
 158. मनु स्मृति (2/67)
 159. मनु स्मृति (2/56)

ने स्त्रियों के उपनयन का भी विरोध कर दिया।⁽¹⁵⁹⁾ इससे स्पष्ट है कि समय-समय पर स्त्री शिक्षा के मापदंड बदलते रहे हैं और उनके लिए निर्धारित शैक्षणिक पाठ्यक्रमों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा है।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, शैक्षणिक दृष्टि से प्राचीन भारत में महिलाएं सद्योवधू और ब्रम्हवादिनी दो प्रकार की थीं। प्राचीन भारतीय सद्योवधुओं में गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, निवावरी, आत्रेयी, प्रतिथेयी, बड़वा, कुन्ती, कौशल्या, तारा, कामनदकी, सीता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जबकि ब्रम्हवादिनी स्त्रियों में वेदवती, बृहस्पति की बहन भुवना, अर्पणा, पाटला, सतरुपा आदि का नाम आता है। ब्रम्हवादिनी स्त्रियों का झुकाव उच्च शिक्षा के साथ-साथ अध्यात्म की ओर भी होता था।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के पश्चात स्त्रियों का उपनयन संस्कार प्रतिबंधित हो गया, जिससे उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित हुई और उनके स्वतंत्र विकास में भी बाधा उत्पन्न हुई। ऋग्वैदिक काल तक उनका विवाह 16 से 17 वर्ष तक की आयु में होता था, लेकिन बाद में स्मृतिकारों ने उनका विवाह जल्दी करना समर्थित कर दिया। कुछ स्मृतिकारों ने तो 7 से 9 वर्ष की आयु में ही उनके विवाह का समर्थन किया है।⁽¹⁶⁰⁾ इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों की शिक्षा में बाधाएं उत्पन्न हो गईं। मनु स्मृति में तो बारह वर्ष की आयु के बाद कन्या को अविवाहित रखना पाप समझा जाने लगा।⁽¹⁶¹⁾ इन परिस्थितियों में महिलाओं की शिक्षा में अनेक बाधाएं आईं, लेकिन इन प्रतिबंधों के बाद भी कुलीन परिवारों की स्त्रियों को उच्च शिक्षा दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

जाति और शिक्षा

प्राचीन भारत के वैदिक युग में शिष्य बनने के लिए जाति संबंधी कोई बंधन नहीं था। कोई भी विद्यार्थी शिष्यत्व प्राप्त कर सकता था। योग्यता, विनम्रता और गृहणशीलता के आधार पर शिष्य बनाये जाते थे। यदि विद्वान व्यक्ति क्षत्रिय होता तो ब्राम्हण भी उसका शिष्य बन सकता था। उपनिषदों में वर्णन है कि सत्यकाम जबाल ब्राम्हण न होते हुए भी विद्वान था और

160. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश में वर्णित आश्वलायन तथा कश्यप के उपदेश

161. याज्ञवल्क्य स्मृति (1/76) तथा मनु स्मृति (9/90/93)

162. छान्दोग्य उपनिषद (4/10/14) तथा बृहदारण्यक उपनिषद (6/3/12)

उसके गुरुकुल में अनेक विद्यार्थी अध्ययन करते थे।⁽¹⁶²⁾ उसे स्वयं अपने कुल का पता नहीं था। सत्य से अविचलित होने के कारण उसे शिष्य बनने के अवसर मिला था।⁽¹⁶³⁾ उद्दालक आरुणि ने कैकेय राज्य के राजा अश्वपति से ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त की थी। उद्दालक आरुणि ब्राम्हण थे और अश्वपति क्षत्रिय थे।⁽¹⁶⁴⁾ आचार्य प्रवाहण ने आरुणि को पंचागनी विद्या की शिक्षा दी।⁽¹⁶⁵⁾ इसी प्रकार जन्म से ब्राम्हण गार्ग्य बालाकि ने काशी नरेश क्षत्रिय अजात शत्रु से ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था।⁽¹⁶⁶⁾ जानश्रुति पौत्रायण क्षत्रिय राजा था। उससे अनेक विद्यार्थी ब्रह्मविद्या सीखते थे। राजा बृहद्रथ के पास भी अनेक विद्वान ब्राम्हण अध्यात्म विद्या सीखने आते थे।⁽¹⁶⁷⁾ ऐसे भी ऋषियों का उल्लेख मिलता है जो जन्म से ब्राम्हण नहीं थे लेकिन उन्होंने अपने ज्ञान के कारण ब्रह्मऋषि पद प्राप्त किया था। ऐसे विद्वानों में वाल्मीकि, वेद-व्यास, विश्वामित्र, कण्व, पाराशर, भारद्वाज आदि का नाम उल्लेखनीय है।

सूत्र काल तक शूद्र विद्यार्थी भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते और शिक्षा प्राप्त करते थे तथा उनका समावर्तन संस्कार भी होता था।⁽¹⁶⁸⁾ स्मृतिकार से शूद्रों की वैदिक शिक्षा प्रतिबंधित होने लगी। बुद्ध के अनेक शिष्य जन्म से शूद्र थे। हरिकेशबल का जन्म चाण्डाल जाति में हुआ था, लेकिन उन्हें ज्ञान के कारण ऋषि माना जाता था।⁽¹⁶⁹⁾ वर्ण के आधार पर द्विज वर्ण के छात्रों को वर्णी कहा जाता था।⁽¹⁷⁰⁾

प्राचीन काल में प्रारंभ में शिक्षा सभी के लिए खुली थी लेकिन बाद में यह उच्च वर्ण के लिए खुली रह गई और निम्न वर्ण के छात्रों को अवैदिक अध्ययन से ही संतुष्ट रहना पड़ा। ऋग्वेद में एक विद्यार्थी के ऐसे परिवार का वर्णन मिलता है जिसमें पिता वैद्य और माता अन्न पीसने वाली श्रमिक थी। अम्बरीष, त्रसदस्यु और अश्वमेघ जैसे ऋषि क्षत्रिय थे।⁽¹⁷¹⁾ ऐतरेय

163. छान्दोग्य उपनिषद (4/4/2)

164. छान्दोग्य उपनिषद (5/11)

165. बृहदारण्यक उपनिषद (6/2/4)

166. बृहदारण्यक उपनिषद (2/1)

167. छान्दोग्य उपनिषद (4/1/3)

168. अश्वलायन गृहसूत्र (3/8)

169. उत्तराध्ययन सूत्र (12/1)

170. अष्टाध्यायी (5/2/134)

171. ऋग्वेद (1/100/17)

ब्राम्हण के लेखक महीदास थे जो कि स्वयं शूद्र थे। वेद-व्यास भी एक मछुआरे की कन्या के पुत्र थे। वाजसनेयी संहिता में चारों वर्णों को वैदिक शिक्षा का अधिकारी बताया गया था।⁽¹⁷²⁾

बाद में परिस्थितियां परिवर्तित हुईं और वैदिक शिक्षा उच्च वर्ण तक सीमित रह गई।

शिक्षा का प्रसार

प्राचीन भारत में शिक्षा के प्रसार के साधनों में राज्य के संरक्षण और समर्थन की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। प्रत्येक राजा विद्वानों का सम्मान करके स्वयं गर्व का अनुभव करता था। शिक्षा के प्रसार के लिए राजकीय आश्रय, तीर्थ स्थल, यज्ञ मंडप, अपने शिष्यों के साथ भ्रमण और प्रवासी मुनियों की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय थी।

विद्वान ब्राम्हणों को वैदिक काल से राजकीय संरक्षण और आश्रय मिलता रहा था। उन्हें प्रचुर दक्षिणा भी प्राप्त होती थी।⁽¹⁷³⁾ युधिष्ठिर के महल में प्रतिदिन दस हजार ब्राम्हण सोने की थालियों में भोजन करते थे,⁽¹⁷⁴⁾ और वे 88 हजार स्नातकों का भरण पोषण करते थे। भीष्म ने कहा है कि जो विद्यार्थी शास्त्रोक्त विधि से विद्यार्जन कर रहे हों, राजा को भेंट वस्त्र आदि देकर उनका सम्मान करना चाहिए, और उनके लिए घर आदि भी बनवाना चाहिए।⁽¹⁷⁵⁾ शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक विद्वान शासन की ओर से नियुक्त किये जाते थे। ये शासकीय शिक्षक शिक्षा के प्रसार में बहुत सहायक थे। योग्य विद्यार्थियों को शासन छात्रवृत्ति देता था।⁽¹⁷⁶⁾ महाभारत के आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा है कि— विद्या में बड़े-चढ़े विद्वान पुरुषों का सदा संग करो। वे जो कुछ कहें उसे ध्यान पूर्वक सुनो और बिना विचारे उसका पालन करो। प्रातःकाल उठकर इन विद्वानों का यथा योग्य सत्कार करो और कार्य उपस्थित होने पर उनसे अपना कर्तव्य पूछो।⁽¹⁷⁷⁾

शिक्षा के प्रचार-प्रसार में तीर्थ स्थलों की भी विशेष भूमिका थी। ये तीर्थ जनता को आध्यात्मिक संतोष के साथ-साथ सात्विक ज्ञान भी प्रदान करते थे। तीर्थ स्थलों में जाकर ऋषि,

173. बृहदारण्यक उपनिषद (2/1/1) तथा छान्दोग्य उपनिषद (5/11/5)

174. महाभारत आदि पर्व (45/17-18)

175. महाभारत अनुशासन पर्व (60)

176. महाभारत अनुशासन पर्व (69)

177. महाभारत आश्रमवासिक पर्व (9/10/13)

178. महाभारत शल्य पर्व (50/2)

